॥ ओ३म् ॥

मूल गीता में श्री कृष्णार्जुन संवाद

लेखक

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

मूल गीता में श्रीकृष्णार्जुन संवाद

गीता में जो कुछ कहा गया है, वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच युद्धक्षेत्र में हुए संवाद की, भीष्म की मृत्यु के पश्चात् युद्धक्षेत्र से लौटने पर, संजय द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट है। इस रिपोर्ट का प्रतिपाद्य क्या है? किसी भी ग्रन्थ, प्रकरण अथवा वाक्य के अर्थ का निर्णय करने अथवा उसका तात्पर्य जानने के लिए प्राचीन मीमांसकों का एक सर्वमान्य श्लोक है—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णये ॥

इस प्रकार किसी ग्रन्थ अथवा लेख के तात्पर्य का निश्चय करने में उक्त श्लोक में कही गई सात बातें सहायक होती हैं—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

इनमें सबसे पहली बात 'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त है। कोई भी मनुष्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अथवा किसी हेतुविशेष से ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है और उस प्रयोजन अथवा हेतु की सिद्धि होने पर ही उसे समाप्त करता है। अतः ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्धारण करने में सबसे पहले उसके उपक्रम (आरम्भ) तथा उपसंहार (अन्त) पर ही विचार करना चाहिए। आद्यन्त के आधार पर तात्पर्य का ज्ञान हो जाने पर यह देखना चाहिए कि उस ग्रन्थ में 'अभ्यास' अर्थात् बार-बार कथन किस बात का किया गया है। ग्रन्थकार अपने अभीष्ट के समर्थन में किंचिद् भिन्न शब्दों में अथवा अनेक प्रकार के तर्क व प्रमाण प्रस्तुत करके, बार-बार अपने मन के भाव को व्यक्त करता है और हर बार कहता है—'इसलिए (तस्मात्) ऐसा होना या करना चाहिए।'

तात्पर्य का निर्णय करने में चौथा साधन है 'अपूर्वता', अर्थात् प्रतिपाद्य विषय का वैशिष्ट्य अथवा उसका लीक से हटकर होना। जहाँ सामान्य लौकिक बुद्धि का प्रवेश न हो, शास्त्र-प्रवृत्ति की सफलता ऐसे ही अर्थ में होती है। कोई भी ग्रन्थकार जब ग्रन्थ लिखने बैठता है तो वह चाहता है कि मैं लोगों को कोई ऐसी बात बतलाऊँ जो मुझसे पहले अन्य किसी ने न कही हो। मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ की महत्ता के प्रदर्शनार्थ किया गया उपयुक्त कथन 'अर्थवाद' कहलाता है। यह निश्चय हो जाने पर भी कि हमें मुख्यतः किस बात को सिद्ध करना है, कभी-कभी ग्रन्थकार प्रशंसानुसार दूसरी अनेक बातों का भी वर्णन करता है, जैसे प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देने, समानता व भेद

दिखलाने, पर-मत के दोष बतलाकर स्वमत को दृढ़ करने के लिए अलंकारादि से काम लेता है; विषयान्तर प्रतीत होने पर भी ऐसा अपने सिद्धान्त की महत्ता दिखलाने या अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। यह सर्वथा सत्य नहीं होता। इस प्रकार का उल्लेख 'अर्थवाद' कहलाता है। स्तुति या प्रशंसा की इन अर्थ-वादात्मक बातों को छोड़कर ग्रन्थकार के वास्तविक तात्पर्य का निश्चय होता है। जिस विषय में प्रकरण का तात्पर्य है, उसके अनुसार आचरण करने पर उससे होनेवाली उपलब्धि को 'फल' कहते हैं। अमुक फल की प्राप्ति हो, इसी हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है। इसलिए यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाय तो उससे ग्रन्थकार का आशय या तात्पर्य ठीक-ठीक व्यक्त हो जाता है।

किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिए बाधक प्रमाणों का खण्डन करते हुए साधक प्रमाणों को युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करना 'उपपत्ति' अथवा उपपादन कहलाता है। उपक्रम तथा उपसंहाररूप आद्यन्त के दो छोरों का निश्चय हो जाने पर बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति की सहायता से निकल आता है। अर्थवाद से यह मालूम हो जाता है कि कौन-सी बात मुख्य है और कौन-सी आनुषंगिक। तब उपपत्ति की सहायता से आनुषांगिक की उपेक्षा करके लेखक मुख्य के उपपादन में प्रवृत्त होता है और पाठक उसके अन्तिम तात्पर्य को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

मीमांसकों द्वारा निर्धारित ये नियम सार्वभौम एवं सार्वकालिक होने से प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः सर्वमान्य हैं। परन्तु जब एक बार किसी की दृष्टि साम्प्रदायिक या संकुचित हो जाती है, तब वह किसी-न-किसी रीति से यही सिद्ध करने का यत्न किया करता है कि प्रमाण-भूत धर्मग्रन्थों में उसी के सम्प्रदाय का वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब वे पहले से निश्चित किए हुए अपने ही सम्प्रदाय के अर्थ को सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्ध कर दिखाने का यत्न करने लगते हैं कि सब धार्मिक ग्रन्थों में वही अर्थ प्रतिपादित किया गया है, तब वे इस बात की परवाह नहीं करते कि हम मीमांसाशास्त्र के नियमों की अवहेलना कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का परित्याग करके मीमांसकों द्वारा निर्दिष्ट उपक्रम, उपसंहार आदि के द्वारा ही गीता के तात्पर्य को प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत-युद्ध के प्रारम्भं होने से पहले जब दोनों पक्षों की सेनाएँ यथास्थान खड़ी हो गईं तो भीष्मपितामह ने युद्ध शुरू करने के लिए शंख बजा दिया। सैनिक एक-दूसरे पर शस्त्र चलाने लगे। इतने में अर्जुन को वैराग्य हो गया और वह ब्रह्मज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बघारने लगा और विमनस्क हो संन्यास लेने को तैयार हो गया। तब उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने 'गीता' का उपदेश दिया। जब वह दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा होकर यह देखने लगा कि इस युद्धक्षेत्र में मुझे किनसे लड़ना होगा, तब उसे वहाँ वृद्ध भीष्मपितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी

बने हुए अपने ही बन्धु-बान्धव कौरवगण तथा अन्य सम्बन्धी, अनेक राजा और राजपुत्रों के अतिरिक्त लाखों सैनिक, हाथी-घोड़े आदि दीख पड़े। यह सब देखकर वह मन में सोचने लगा—एक छोटे-से हस्तिनापुर के राज्य के लिए उसे इन सबको निर्दयतापूर्वक मारना पड़ेगा और अपने कुल का नाश करना पड़ेगा। ऐसे युद्ध की विभीषिका और उसके कारण होनेवाले महत् पाप के भय से उसका मन एकदम क्षुब्ध हो उठा। एक ओर उसे क्षात्रधर्म ललकारकर कह रहा था—युद्ध कर! दूसरी ओर से पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बन्धुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे बलात् पीछे खींच रहे थे। अंग्रेज़ी के सुप्रसिद्ध कवि एलेग्ज़ेण्डर पोप (Alexander Pop) ने एक स्थान पर लिखा है—

Two things in human nature reign,
Passion to urge and reason to restrain. *(Essay on Man)*

भावना मनुष्य को आगे की ओर धकेलती है और तर्क उसे नियन्त्रित करता है। अर्जुन के लिए यह बहुत बड़ा संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपने ही गुरुजनों और बन्धु-बांधवों की हत्या करके महापातक का भागी बने। और यदि लड़ाई न लड़े तो क्षात्रधर्म से च्युत समझा जाय—इधर कुआँ तो उधर खाई। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, तथापि धर्माधर्म के इस महान् संकट में पड़कर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर पर रोंगटे खड़े हो गए, धनुष हाथ में गिर पड़ा और वह 'मैं नहीं लड़ूँगा' कहकर चुपचाप रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गया। तब वह मोहवश हो कहने लगा—'पिता-सम पूज्य गुरुजनों, भाई-बन्धुओं और मित्रों को मारकर और इस प्रकार कुल का सर्वनाश करके राज्य का एक टुकड़ा पाने से तो टुकड़े माँग-माँगकर जीवन-निर्वाह करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। चाहे मेरे शत्रु मुझ निहत्थे की गर्दन उड़ा दें, परन्तु मैं अपने स्वजनों की हत्या करके उनके खून से सने सुखैश्वर्य को भोगना नहीं चाहता। भाई को मारो, गुरु का वध करो, अपने कुल का नाश करने से न चूको—क्या यही क्षात्रधर्म है? आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्रधर्म में! हमारे शत्रु दुष्ट हैं, वे धर्माधर्म को नहीं जानते, तो क्या उनके साथ हम भी पापी हो जाएँ? कभी नहीं। मुझे तो यह घोर हत्या और पाप श्रेयस्कर नहीं मालूम पड़ता।' इस प्रकार विचार करते-करते उसका मन डाँवाडोल हो गया।

कर्माकर्म-संशय के ऐसे अनेक प्रसंग ढूँढकर अथवा कल्पित करके उन पर बड़े-बड़े कवियों ने अत्यन्त सरस काव्यों तथा नाटकों की रचना की है। उदाहरणार्थ, शैक्सपीयर का प्रसिद्ध नाटक 'हैमलेट' लीजिए। डेनमार्क के राजकुमार हैमलेट के चाचा ने राजकर्ता अपने भाई (हैमलेट के पिता) को मारकर उसकी पत्नी—हैमलेट की माता को, अपनी पत्नी बना लिया और राजगद्दी छीनकर राजा बन बैठा। तब राजकुमार हैमलेट के मन में द्वन्द्व मच गया कि ऐसे पापी चाचा का वध करके पुत्र-धर्म के अनुसार अपने पितृ-ऋण से मुक्त हो जाऊँ अथवा अपने चाचा, अपनी माता के पति और सिंहासनारूढ़ राजा पर दया करूँ? इस मोह में पड़ जाने के कारण कोमल अन्तःकरणवाला हैमलेट

पागल हो गया और अन्त में 'जिएँ या न जिएँ'[1] इसी बात की चिन्ता करते-करते आत्महत्या करने पर विवश हो गया। काश! उस समय उसे कोई हितैषी मार्गदर्शक मिल गया होता।

अर्जुन भाग्यशाली था कि उसे श्रीकृष्ण जैसा परमहितैषी और नीतिमान् उपदेशक मिल गया। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह श्रीकृष्ण की शरण में चला गया—'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे मार्ग दिखाइए'—**"शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्"**। तब उसे क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसी को 'भगवद्गीता' के नाम से अभिहित कर महर्षि वेदव्यास ने अपने महाकाव्य 'जय' (महाभारत) में प्रस्तुत किया। इसका फल यह हुआ कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय के कारण युद्ध से पराङ्मुख हो गया था, वही अब अपना यथोचित कर्तव्य समझ गया और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से युद्ध में प्रवृत्त हो गया।

गीता के तात्पर्य को जानने के लिए उसके उपक्रम—उपसंहार—परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना होगा। गीता के उपदेश का उपक्रम (आरम्भ) तब हुआ जब अर्जुन 'मैं नहीं लड़ूँगा' (न योत्स्ये) कहकर और धनुष-बाण फेंककर, मारने की बजाय मरने के लिए तैयार होकर, रथ में पीछे की ओर जा बैठा; और इस उपदेश का उपसंहार (अन्त) तब हुआ जब अर्जुन श्रीकृष्ण के आदेशानुसार (करिष्ये वचनं तव) लड़ने के लिए तैयार हो गया। गीता कहते-कहते बीच-बीच में अनुमान-दर्शक महत्त्व के 'तस्मात्' (इसलिए) पद का प्रयोग करके अर्जुन को यही निश्चतार्थक कर्मविषयक उपदेश देते गये कि **'तस्माद्युध्यस्व भारत'** (२।१८।)— इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर; **'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः'** (२।३७)—इसलिए हे कौन्तेय! तू युद्ध का निश्चय करके उठ; **'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः'** (३।१९)—इसलिए मोह छोड़कर तू अपना कर्त्तव्य कर्म कर; **'युद्धयस्व विगतज्वरः'** (३। ३०)—निश्चिन्त होकर युद्ध कर; 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्' (४।१५)—इसलिए तू कर्म कर; **'मामनुस्मर युध्य च'** (८।७)—इसलिए मेरा स्मरण कर और लड़; **'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्'** (११।३३) —इसलिए तू उठ और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर; **'युध्यस्व जेतासि**

---

1. To be or not to be – that is the question;
Whether 'tis nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing end them? To die, to sleep –
....But that the dread of something after death –
The undiscovered country, from whose bourne,
No traveller returns – puzzles the will....
Thus conscience does make
Cowards of us all.

–Hamlet, Act III, Scene I

रणे सपत्नान्'(११।३४)—युद्ध कर, तू शत्रुओं को जीतेगा।

उपदेश की समाप्ति पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—'तूने मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न? और सुन लिया है तो बता कि तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह पूरी तरह दूर हो गया या नहीं?' (१८।७२) इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया—'हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे अपने कर्तव्य का बोध हो गया है। अब मैं जैसा आप कहेंगे, वैसा ही करूँगा।' (१८।७३) 'जैसा आप कहेंगे'—अब कहने के लिए क्या रह गया था? श्रीकृष्ण ने बार-बार एक ही बात कही— लड़, लड़, लड़! और अर्जुन लड़ने के लिए खड़ा हो गया। फिर वह ऐसा लड़ा कि एक बार आवेश में आकर बड़े भैया युधिष्ठिर तक को मारने को तैयार हो गया था। यदि श्रीकृष्ण बीच में न पड़ते तो युधिष्ठिर की मृत्यु निश्चित थी। (वनपर्व)

इस प्रकार तात्पर्य-निर्णय के लिए निर्धारित नियमों के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य युद्ध से विरत अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं ठहरता।

श्रीकृष्ण को सारथि बना, धनुषबाण ले, रथ पर सवार होकर अर्जुन युद्धक्षेत्र में किसलिए गया था? निश्चय ही युद्ध करने के लिए। उसे यह भी पहले से पता था कि उसके प्रतिद्वन्द्वी कौन हैं; प्रतिद्वन्द्वियों में प्रमुख कौन हैं, उन सबको भी वह भलीभाँति जानता था। तब दोनों सेनाओं के बीच खड़ा होकर उन्हें जानने में क्या तुक थी? देखा ही था और देखकर अर्जुन के मन में कुछ शंकाएँ उठी थीं जो उसके युद्ध में प्रवृत्त होने में बाधक बन रही थीं तो श्रीकृष्ण का उपदेश उन शंकाओं के समाधान तक सीमित रहना चाहिए था। अर्जुन ने अपने मन को उद्विग्न करनेवाली शंकाओं तथा युद्ध के परिणामस्वरूप होनेवाली हानियों को इस रूप में प्रस्तुत किया था—

१. पूज्य गुरुजनों और बन्धु-बांधवों की हत्या कल्याणकारिणी नहीं होगी।

२. जिनके लिए राज्यभोग और सुख चाहिएँ वे सब तो यहाँ मरने के लिए खड़े हैं।

३. जिन्हें मारकर मैं तीनों लोकों का राज्य भी नहीं चाहता तो क्या एक पृथिवी के राज्य के लिए इनका हनन करना उचित होगा?

४. माना कि ये आततायी हैं, तब भी क्या स्वजनों को मारकर हम सुखी रह सकेंगे?

५. यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्र लोभ के वशीभूत हो बुद्धि खो बैठने से कुल के क्षय और मित्रद्रोह करने के पाप को नहीं देख रहे हैं, तो क्या हमें भी इस दोष और पाप से बचने के विषय में विचार नहीं करना चाहिए?

६. कुल का नाश हो जाने पर कुल-धर्म का नाश हो जाएगा।

७. कुलधर्म के नष्ट होने पर अधर्म के राज्य का विस्तार हो जाएगा।

८. अधर्म के फैल जाने पर स्त्रियों का आचरण दूषित हो जाएगा।

९. स्त्रियों के दूषित हो जाने पर उनसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

१०. वर्णसंकर, कुल नष्ट करनेवालों को और कुल, दोनों को नरक में ले जाते हैं। ऐसे कुलों के पितर अन्न-जल के अभाव में दुःख पाते हैं।

११. इन दोषों के कारण समस्त जाति-धर्म और परमपरागत कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

१२. जिनके कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, वे सदा के लिए दुःखरूप नरक में पड़े रहते हैं।

१३. तब क्या यह दुःख और चिन्ता की बात नहीं है कि हम राज्य पाने के लोभ में स्वजनों की हत्या के पाप में प्रवृत्त हो रहे हैं?

१४. क्या मेरे लिए यह अच्छा नहीं होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निहत्थे को मार डालें?

१५. पूजा के योग्य भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण की ओर मैं बाण कैसे फेंक सकूँगा?

१६. क्या ऐसे पूज्य महानुभावों को मारकर जीने की अपेक्षा भीख माँगकर पेट भर लेना उचित नहीं होगा?

१७. क्या यह उचित होगा कि मैं गुरुओं के खून से सने भोगों को भोगूँ?

१८. क्या हम जानते हैं कि हम दोनों—कौरवों तथा पाण्डवों—में कौन जीतेगा?

१९. क्या पृथिवी के निष्कण्टक समृद्ध राज्य पर मेरा आधिपत्य इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे शोक को दूर कर देगा?

२०. अज्ञान के कारण मैं दीनता के भाव से ग्रस्त हो गया हूँ। इसलिए जो मेरे लिए निश्चय रूप से हितकर हो, वह मुझे बताइए।

क्या श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में इन प्रश्नों का उत्तर दिया है? हमारे विचार में १८वें प्रश्न को छोड़कर शेष प्रश्नों को तो उन्होंने छुआ तक नहीं। परन्तु यह कैसे हो सकता था कि श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ विद्वान् और कुशल वक्ता ने उत्तर न दिया हो? और फिर, अर्जुन भी उत्तर पाए बिना कहाँ छोड़नेवाला था? जैसा हम आगे बताएँगे, महाभारत में जहाँ समय-समय पर श्लोक डाले गए हैं, वहाँ निकाले भी गए हैं। गीता मूलतः महाभारत का ही अंग है। हो सकता है कि इस घटने-बढ़ने में ही श्रीकृष्ण के उत्तर निकल गए हों। अस्तु—

भगवद्गीता अथवा महाभारत के अन्तर्गत भीष्मपर्व के २५वें अध्याय से ४२वें अध्याय तक के १८ अध्यायों का नाम है। महाभारत को व्यास की रचना माना जाता है। परन्तु वर्तमान महाभारत के रचयिता व्यास नहीं हैं। वस्तुतः व्यास ने तो वर्तमान में प्रचलित एक लाख श्लोकों में महाभारत का नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने तो ८-१० हज़ार श्लोकों का 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था। कालान्तर में उसमें प्रक्षेप होते गए। कब, किसने, कितना और कहाँ प्रक्षेप किया इसका निश्चय करने के लिए कोई आधार न होने के कारण विद्वान् इस विषय में एकमत नहीं हैं। तथापि इतना निश्चित है कि ये प्रक्षेप समय-समय पर अनेक

विद्वानों द्वारा हुए हैं। संस्कृत-साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वर्तमान में प्रचलित महाभारत के तीन कर्ता माने हैं।'जय' का व्यास रचित होना निर्विवाद है। व्यास के ही एक शिष्य वैशम्पायन ने कुछ श्लोक बढ़ाकर 'जय' को 'भारत' नाम दिया। उनके 'भारत' की श्लोक-संख्या चौबीस हज़ार बताई जाती है। तत्पश्चात् सौति ने ७६००० श्लोक मिलाकर उसे 'महाभारत' के नाम से प्रतिष्ठित किया। सौति कथावाचक थे। महाभारत के सभी आख्यान उन्हीं के लिखे माने जाते हैं। सम्भव है कि श्रोताओं के मनोरंजन के लिए आख्यानों की रचना करते समय उन्होंने सिद्धान्तों का ध्यान न रखा हो। श्रोताओं के साथ हुए प्रश्नोत्तरों के कारण भी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हो सकती हैं। पूर्वापर-विरोधी और शास्त्र-विरोधी सभी बातों को निश्चित प्रमाणों के अभाव में सौति के सिर भी नहीं मढ़ा जा सकता। अतः विवश हो यही मानना पड़ता है कि विभिन्न कालों में विभिन्न लोग प्रक्षेप करते रहे हैं। महाभारत में सौति को पुराणों का विद्वान् भी बताया है। इससे स्पष्ट है कि सौति पुराणोत्तरकाल के कथावाचक थे। पुराणों का काल महाभारत के बहुत बाद का है। अंग्रेज़ों के भारत में आने के बाद भी पुराणों की रचना होती रही है, यह निम्नलिखित श्लोक से स्पष्टतः सिद्ध है—

रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फ़र्वरी।
षष्टिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम्॥

—भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग, खं० १, अ० ५

इसलिए पुराणों के आधार पर सौति का काल निश्चित नहीं किया जा सकता।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि जिस प्रकार साम्प्रदायिक लोग अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, वैसे ही प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं। सौति ने महाभारत की श्लोक-संख्या एक लाख गिनी है। परन्तु महाभारत में इस संख्या की अपेक्षा ४००० से १५००० तक की संख्या कम है, क्योंकि कुम्भघोण संस्करण में लगभग ९६००० श्लोक हैं और कलिकाता संस्करण में ८५०००। इससे स्पष्ट है कि महाभारत में से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं।

हमारा प्रतिपाद्य विषय महाभारत न होकर गीता तक सीमित है, और महाभारत का यह भाग मूलतः निश्चय ही व्यास-रचित है। लोकमान्य तिलक का इस विषय में कहना है—"वर्तमान गीता को महाभारतकार ने पहले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है। यह नई रचना नहीं है। तथापि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारतकार ने कोई हेर-फेर नहीं किया होगा।"

—गीता रहस्य, पृ० ५२५

महाभारत में आदिपर्व के अन्तर्गत निम्न दो श्लोक इस प्रसंग में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुजैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥८९॥

प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥ ९० ॥

सर्वश्रेष्ठ वरदायक भगवान् वेदव्यास ने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारत को सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकदेव और वैशम्पायन को पढ़ाया। फिर उन सबने पृथक्-पृथक् महाभारत-संहिता बनाकर प्रकाशित की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा महाभारत के पृथक्-पृथक् पाँच संस्करण प्रकाशित हुए। एक ही विषय में लिखने पर भी पाँच विद्वानों के चिन्तन और अभिव्यक्ति में समानता नहीं हो सकती। इसलिए पाँच महाभारतों में पर्याप्त अन्तर रहा होगा। वर्तमान में उपलब्ध महाभारत पाँचों में से किसकी रचना है, इसका पता कैसे लगे ? फिर, उसे प्रामाणिक या अन्यथा कहने का क्या आधार हो सकता है ?

प्रक्षेप से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चित है कि प्रक्षेप किसी पर्व अथवा अध्यायविशेष में सीमित नहीं रहा होगा, वह समूचे महाभारत में यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ होगा। यदि वर्तमान में प्रचलित लक्षश्लोकी महाभारत मूलतः केवल आठ-दस हज़ार श्लोकों का था तो एव लाख श्लोकों के महाभारत में समाविष्ट सात सौ श्लोकों की गीता का ६०-७० श्लोकों में होना क्या युक्तियुक्त नहीं है ? यह भी हो सकता है कि पूर्व-निर्दिष्ट पाँच संस्करणों में से विलुप्त संस्करणों में वैसा ही संस्करण (१० हज़ार श्लोकी) रहा हो। उसमें गीता का उपदेश भी ६०-७० श्लोकों में दिया गया हो और उसमें इधर-उधर की बातें न करके कृष्ण ने युद्ध से विरत अर्जुन के प्रश्नों का तर्कसंगत, बोधगम्य तथा सूत्रात्मक अर्थात् संक्षिप्त उत्तर दिया हो।

प्रक्षेपों के कारण अनेक की रचना हो जाने से गीता में परस्पर-विरोध, पुनरुक्ति तथा प्रसंग-विरुद्ध कथन आदि अनेक दोष आ गए हैं। उदाहरणार्थ—

द्वितीय अध्याय के २३वें श्लोक में 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' कहने के बाद अगले ही श्लोक में 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्' कहने की क्या आवश्यकता थी ? जिसे शस्त्र नहीं काट सकते उसका 'अच्छेद्य' होना और जिसे 'अग्नि नहीं जला सकती' उसका 'अदाह्य' होना तो स्वतः सिद्ध है। इस श्लोक में आए 'सर्वगतः' शब्द से भी इसका प्रक्षिप्त होना स्पष्ट है। यह 'जीवात्मा' का प्रकरण है। जीवात्मा के 'एकदेशी' होने से उसे 'सर्वगत' नहीं कहा जा सकता। 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः' कहने के पश्चात् 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहना अनावश्यक था। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' के साथ 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' कहने में क्या तुक थी ? 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस सिद्धान्त का निरूपण करने के साथ—'न जायते म्रियते वा कदाचित्', 'अथ चैनं नित्यजातम्·····', 'देही नित्यमवध्योऽयम्·····', 'न त्वेवाहं जातु नासम्·····' इत्यादि कथन क्या व्यर्थ समय नष्ट करना नहीं था ? द्वितीय अध्याय में इन्द्रिय-निग्रह की बात बलपूर्वक ५८, ६० व ६१ श्लोकों में कह दी गई। फिर किंचिद् भिन्न शब्दों में ६७-६८वें श्लोकों में कहने की क्या आवश्यकता थी ? व्याख्यानों वा प्रवचनों में

बल देने के लिए एक ही बात को बार-बार कहा जा सकता है, परन्तु जिस स्थिति में गीता का उपदेश देना पड़ा, उस अवस्था में आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द बोलने का अवसर या औचित्य नहीं बनता।

इसी अध्याय में ४५वाँ (त्रैगुण्यविषया···) और ४६वाँ (यावानर्थ उदपाने···) श्लोक अस्थान में होने से प्रक्षिप्त हैं। यह प्रकरण निष्काम कर्म का है। इन दो श्लोकों से पूर्व के ४३-४४वें तथा तत्पश्चात् ४७-४८वें श्लोकों में निष्काम कर्म का विधान किया गया है। ऐसी अवस्था में बीच के श्लोकों में भी निष्काम कर्म के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहिए था। परन्तु इनमें स्पष्ट ही वेदों की निन्दा की गई है जिसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं था।

इस प्रकार गीता में पुनरुक्त, परस्पर-विरुद्ध तथा प्रसंग-विरुद्ध वचनों की भरमार है। वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास द्वारा सम्पादित योगिराज श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में इस प्रकार के दोषा ढूँढने पर भी नहीं मिलने चाहिएँ, फिर भी वर्तमान में प्रचलित गीता में ये दोष अनेकत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसके लिए न श्रीकृष्ण दोषी हैं न वेदव्यास। इसके लिए दोषी हैं अज्ञात कुलशील के विद्वान्, जो अपने साम्प्रदायिक मन्तव्यों की पुष्टि के लिए समय-समय पर मनमाने प्रक्षेप करके गीता के कलेवर को बढ़ाते-घटाते रहे हैं।

जिस स्थिति में, अर्थात् युद्ध में प्रवृत्त दो सेनाओं के बीच में खड़े होकर यह संवाद हुआ उसमें विषयान्तर और विस्तार के लिए कोई अवकाश, अवसर या औचित्य नहीं था। वहाँ तो सारी बात कुछ क्षणों में समाप्त हो जानी चाहिए थी। अर्जुन ने लड़ने से इन्कार करते हुए जो बातें कही थीं, केवल उनका उत्तर अपेक्षित था। पूरक या अतिरिक्त प्रश्नों (Supplementries) के लिए भी विशेष अवसर नहीं था। युद्धक्षेत्र में जिस उपदेश की कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं थी और अर्जुन ने जिस विषय में जिज्ञासा भी नहीं की थी, उनका विवेचन वहाँ करने की क्या तुक थी? वहाँ तो श्रीकृष्ण को केवल शंकाओं का समाधान करना चाहिए था जिन्हें अर्जुन ने अपने युद्ध से विरत होने के कारणरूप में प्रस्तुत किया था।

वहाँ न तो अध्यात्म, योगाभ्यास और समाधि आदि का विवेचन करने का अवसर था और न खान-पान, दान-पुण्य के सात्त्विक, राजस व तामस भेदों की व्याख्या करने का। इस प्रकार के प्रश्न यदि अर्जुन उठाता भी तो श्रीकृष्ण को कह देना चाहिए था कि 'देश, काल और परिस्थिति को देखते हुए इस समय केवल युद्ध-सम्बन्धी बातें कर, शेष बातें युद्ध की समाप्ति पर घर में बैठकर करेंगे। यहाँ तो तू अकेला सुनेगा, वहाँ अन्य अनेक भी सुनकर लाभान्वित होंगे।'

दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लें कि गीता में उपलब्ध उपदेश दिया गया था तो उसका क्या लाभ हुआ? महाभारतकार के अनुसार वह सब अर्जुन तो भूल ही गया, स्वयं श्रीकृष्ण को भी बिल्कुल याद नहीं रहा। वहाँ अश्वमेधादिक पर्व में अनुगीता के अन्तर्गत लिखा है—

एक दिन अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि जब संग्राम का समय उपस्थित था, तब—

यत्तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सुहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः॥ ६ ॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता न चिरादेव माधव॥ ७ ॥

"आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञान का उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित चित्त हो जाने के कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है।

हे माधव! उन विषयों को सुनने के लिए मेरे मन में बार-बार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं, अतः वे सब विषय मुझे दुबारा सुना दीजिए।"

इस पर श्रीकृष्ण बोले—

अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति॥ १० ॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय॥ ११ ॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥ १२ ॥

हे अर्जुन! तुमने जो अपनी नासमझी के कारण उस उपदेश को याद नहीं रखा, यह मुझे बहुत बुरा लगा है। अब उन बातों का पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता। पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता। ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए वह धर्म पर्याप्त था। अब यह सारा-का-सारा धर्म फिर दुहराना मेरे वश की भी बात नहीं है।

इससे तो स्पष्टतः प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के अनुसार दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर गीता के नाम पर दिया गया उपदेश अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए दिया गया था, न कि युद्ध से विरत अर्जुन की शंकाओं का समाधान करके उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए। युद्ध के प्रसंग में ब्रह्मपद की प्राप्ति की बातें करना कहाँ की बुद्धिमत्ता थी? अर्जुन को भी साहस करके टोक देना चाहिए था कि महाराज! मैं युद्धक्षेत्र में शस्त्रधारी लाखों सैनिकों के बीच घिरा खड़ा हूँ, ऋषि-मुनियों के बीच किसी आश्रम में नहीं बैठा हूँ। इस समय तो आप मेरी युद्ध-सम्बन्धी शंकाओं का समाधान कीजिए। ब्रह्मपद-प्राप्ति की बातें युद्ध के बाद होती रहेंगी।

और यदि श्रीकृष्ण अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए कह रहे थे तो बीच-बीच में बार-बार लड़ने के लिए खड़ा होने ('तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः' इत्यादि) के लिए प्रेरित एवं उत्साहित क्यों कर रहे थे?

यह तो होता है कि कभी-कभी विद्यार्थी अध्यापक द्वारा पढ़ाया पाठ भूल जाता

है। पर यह कभी नहीं होता कि विद्यार्थी द्वारा फिर से पूछे जाने पर अध्यपक यह कह दे कि अब तो मैं भी भूल गया हूँ इसलिए दुबारा नहीं पढ़ा सकता। निश्चय ही विद्यार्थी से अध्यापक का या शिष्य से गुरु का ज्ञान अधिक होता है।

श्रीकृष्ण ने गीता में एक स्थान पर अर्जुन से कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ४।५॥

हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सब (जन्मों) को जानता हूँ, तू नहीं जानता।

अर्जुन सामान्य पुरुष था, उसका भूल जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु जन्म-जन्मान्तर की बातों को अपने योगबल से जाननेवाले योगिराज श्रीकृष्ण लगभग एक मास पहले की इस जन्म की बातों को भूल जाए, यह कैसे सम्भव है?

उस उपदेश को इस समय दुहराने में अपनी असमर्थता का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।—अनुगीता १३

उस समय मैंने योगयुक्त होकर परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था।

अर्जुन ने कुछ शंकाएँ प्रस्तुत कीं और श्रीकृष्ण ने तत्काल उत्तर देना आरम्भ कर दिया। युद्धक्षेत्र के अशान्त वातावरण में, तुमुलनाद में, श्रीकृष्ण को योगयुक्त होने में देर नहीं लगी। तब उस 'स्वर्ग के समान सुन्दर स्थान' में सर्वथा एकान्त एवं शान्त वातावरण में योगयुक्त होने में क्या बाधा थी?

श्रोता अर्जुन के भूल जाने पर श्रीकृष्ण ने उसे 'श्रद्धाहीन, मन्द-बुद्धि और नासमझ' आदि कहते हुए उसकी भर्त्सना की। तब उसी अपराध के लिए वक्ता को क्या कहें? सिवा इसके कि 'समरथ को नहीं दोष गुसाईं।' महाभारत का एक अन्य श्लोक द्रष्टव्य है जो इस प्रकार है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥ आदि० १।८१

अर्थात् इस ग्रन्थ में आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिनका अर्थ मैं (वेदव्यास) समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं; और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है।

ये आठ हजार आठ सौ श्लोक कौन-से हैं? इसका निश्चय न तो आज तक कोई कर पाया है और न कभी कोई कर पाएगा। इस समस्त विवेचन से यह तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि महाभारत का और उसके अन्तर्गत भगवद्गीता का अधिकांश प्रक्षिप्त है।

हम यह नहीं कहते कि गीता का अधिकांश अनुपयोगी है अथवा अशुद्ध या व्यर्थ है। हमारा आग्रह तो इस बात पर है कि वह (थोड़े-से श्लोकों को छोड़कर, जिनका सीधा सम्बन्ध अर्जुन की युद्ध के आरम्भ में प्रस्तुत शंकाओं से है) युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ संवाद न होकर कालान्तर में अनेक विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त है।

हमने यहाँ अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार विद्वानों के विचारार्थ उन श्लोकों को अर्थसहित संकलित कर प्रस्तुत किया है जो प्रसंगानुसार तथा तर्क-प्रतिष्ठित होने से प्रामाणिक हैं। इनमें न्यूनाधिक्य हो सकता है। अन्तिमेत्थम् का दावा हम नहीं करते।

जिस स्थान पर महाभारत का युद्ध हुआ, उसे गीता के प्रथम श्लोक में 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' बतलाया गया है। इस पर लोकमान्य की टिप्पणी इस प्रकार है—

'**धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रे**—कौरव-पाण्डव का पूर्वज कुरु नाम का राजा इस मैदान को बड़े कष्ट से जोतता था। अतएव इसे कुरु का क्षेत्र (खेत) कहते हैं। इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो मनुष्य या पशु-पक्षी निराहार रहकर मरेंगे या युद्ध में मारे जाएँगे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी, कुरुक्षेत्र की वायु द्वारा उड़ाई गई धूलि जिसके ऊपर पड़ जाएगी वे पापी भी परमपद (मोक्ष) प्राप्त करेंगे। तब से उसने इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया। (महा० शल्य पर्व ५३)। इनद्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र पुण्यक्षेत्र या धर्मक्षेत्र कहाने लगा। इस मैदान के विषय में यह भी कथा प्रचलित है कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रिय-विहीन करके यहाँ पितृ-तर्पण किया था और अर्वाचीनकाल में भी इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं।'—(गीता रहस्य पृ० ६०८)

तिलक द्वारा महाभारत से उद्धृत यह प्रमाण किसी बुद्धिजीवी के गले नहीं उतर सकता, क्योंकि वह स्वयं महाभारत में अनेकत्र प्रतिपादित कर्मफल-सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करता है।

गीता में श्रीकृष्ण की सुविचारित घोषणा है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥६।४५॥

यत्नपूर्वक उद्योग करता हुआ योगी, जिसके पाप शोधे गए, अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करता हुआ परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है, तब मात्र कुरुक्षेत्र की धूलि ऊपर गिर जाने अथवा वहाँ निराहार मर जाने से पशु-पक्षियों तक को मोक्ष मिल जाने की बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? फिर, परशुराम द्वारा २१ बार पृथिवी को क्षत्रियविहीन कर देना कौन-सा पुण्यकर्म था?

महाभारत-युद्ध में ही १८ अक्षौहिणी सेना (५० लाख मनुष्य) में से केवल १० व्यक्तियों को छोड़कर सभी काल के गाल में समा गए थे। ऐसी भूमि को पुण्यभूमि या धर्मक्षेत्र कैसे माना जा सकता है? इतिहासज्ञ एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि इसी युद्ध के कारण भारत का इतना पतन हुआ कि जो देश कभी विद्या, चरित्र, विज्ञान और कला की दृष्टि से सब देशों का शिरोमणि और समृद्धि की दृष्टि से पारसमणि और सोने की चिड़िया माना जाता था, वह पतन के गर्त में ऐसा गिरा कि आज तक भी उससे पूरी तरह नहीं उभर पाया है। न तो घरेलू झगड़े के कारण हुए ऐसे विनाशकारी युद्ध को धर्मयुद्ध कहा जा सकता है और न ऐसे युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है।